कार्बन ट्रेडिंग एवं वैश्विक तापमान

डॉ. राम प्रताप गुप्ता

इस समय विश्व के सभी राष्ट्रों में समय के साथ वैश्विक तापमान में वृद्धि की प्रवृत्ति तथा तद्जनित जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों पर नियंत्रण की आवश्यकता के बारे में व्यापक सहमति है। इसी सहमति के परिणाम स्वरूप सन 1997 में तापमान वृद्धि पर रोक लगाने सम्बंधी क्योटो समझौता भी हुआ था। चूंकि तापमान वृद्धि के लिए वायुमण्डल में ग्रीनहाउस गैसों (कार्बन डाईऑक्साइड, कार्बन मोनोऑक्साइड, मीथेन आदि) का उत्सर्जन प्रकृति की शोधन क्षमता से कहीं अधिक मात्रा में किया जाना ज़िम्मेदार है, अतः यह तय किया गया कि विकसित राष्ट्र अपने ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में वर्ष 1990 के उत्सर्जन स्तर की तुलना में 2020 तक 20-30 प्रतिशत की कमी करेंगे तथा सन 2050 तक 80 प्रतिशत की कमी लाएंगे। चूंकि विश्व के वायुमंडल में ग्रीन हाउस गैसों के अधिकांश उत्सर्जन के लिए विकसित राष्ट्र ही ज़िम्मेदार हैं अतः उसमें कमी लाने का दायित्व भी उन्हीं पर डाला गया।

जहां तक विकासशील राष्ट्रों का प्रश्न है, सन 2020 तक उनके लिए किसी प्रकार की कमी का कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया था ताकि उनके विकास पर किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। परन्तु सन 2020 से 2050 की अवधि में उन पर भी अपने ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन में 30 प्रतिशत की कमी का दायित्व डाला गया है।

अपेक्षा यह की गई थी कि इन प्रावधानों के माध्यम से विश्व को तापमान वृद्धि और जलवायु परिवर्तन की समस्या से काफी हद तक मुक्ति मिल सकेगी। यहां एक और तथ्य उल्लेखनीय है कि विश्व के वायुमण्डल में ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन तो मुख्यतः विकसित राष्ट्रों द्वारा किया जाता है परन्तु उसके दुष्परिणामों के मुख्य शिकार विकासशील राष्ट्र ही होते हैं। उदाहरण के लिए वैश्विक तापमान में वृद्धि से उत्पन्न जलवायु परिवर्तन के कारण भारत के कुछ भागों में जहां अतिवर्षा होगी, वहीं अन्य में सूखे की प्रवृत्ति बढ़ जाएगी। इस तरह भारत दोनों तरह के दुष्परिणामों का शिकार होगा।

जब क्योटो समझौते पर चर्चा चल रही थी, तो विकसित राष्ट्रों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों में खलबली मची हुई थी, क्योंकि अगर विकसित राष्ट्रों पर ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी की शर्त लागू हो जाती है तो उनके लिए कठिनाई पैदा हो जाएगी। पिछली एक शताब्दी से तेल, गैस और कोयले यानी जीवाश्म स्रोतों से प्राप्त सस्ती ऊर्जा पर आधारित उद्योगों के माध्यम से ही तो वे भारी मात्रा में लाभ अर्जित कर रहे थे। अगर जीवाश्म ऊर्जा के उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया तो उनके मुनाफे का स्रोत ही समाप्त हो जाएगा। ऐसे में इन कंपनियों ने विकसित राष्ट्रों, विशेषकर अमरीकी सरकार के माध्यम से क्योटो समझौते में यह प्रावधान डलवा दिया कि वे चाहें तो ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में स्वयं कमी करे या उनके हिस्से की कमी विकासशील राष्ट्रों की किसी कंपनी से करवा लें।

चूंकि विकसित राष्ट्रों की कंपनियों के लिए ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी की लागत अधिक आती थी, अतः उन्होंने इसमें कमी हेतु स्वयं प्रयास करने के स्थान पर कुछ पैसा देकर विकासशील राष्ट्रों की कंपनियों से उनके हिस्से की कमी करवा लेना अधिक लाभदायक समझा। इस व्यवस्था को उचित ठहराने के पीछे तर्क यह दिया गया था कि ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी चाहे विकसित राष्ट्रों द्वारा की जाए या विकासशील राष्ट्रों द्वारा, वायुमंडल में उत्सर्जित होने वाली ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन की कुल मात्रा में तो कमी आएगी ही और वैश्विक तापमान वृद्धि और जलवायु परिवर्तन की समस्या को हल करने में मदद मिलेगी। जब

विकसित राष्ट्रों की कंपनियां पैसा देकर विकासशील राष्ट्रों से ग्रीन हाउस गैसों के उनके हिस्से में कमी करवाती हैं तो इसे कार्बन का व्यापार यानी कार्बन ट्रेडिंग कहते हैं। प्रश्न है कि क्या कार्बन ट्रेडिंग की यह व्यवस्था क्योटो समझौते की मूल भावना के अनुरूप है और क्या यह विकसित और विकासशील राष्ट्र, दोनों के लिए समान रूप से लाभदायक है?

प्रश्न है कि क्या कार्बन ट्रेडिंग की यह व्यवस्था क्योटो समझौते की मूल भावना के अनुरूप है और क्या यह विकसित और विकासशील राष्ट्र, दोनों के लिए समान रूप से लाभदायक है?

चूंकि विकसित राष्ट्रों की कंपनियों की तुलना में विकासशील राष्ट्रों की कंपनियों के लिए ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी लाना अपेक्षाकृत सस्ता होता है, अतः उन्होंने विकसित राष्ट्रों के दायित्व को अपने ऊपर लेकर व्यापार तथा विदेशी मुद्रा कमाने के एक नए अवसर के रूप में इसका स्वागत किया है। कार्बन ट्रेडिंग का यह स्वागत इस व्यापार की बढ़ती मात्रा से भी प्रकट होता है। कार्बन ट्रेडिंग की मात्रा वर्ष 2005 में 10 अरब डॉलर के बराबर थी और वर्ष 2006 में 30 अरब डालर हो गई थी। अनुमान है कि इस वर्ष यह व्यापार लगभग 100 अरब डालर तक पहुंच जाएगा।

भारत भी इस व्यापार में अग्रणी रहा है। 16 जुलाई 2008 के टाइम्स ऑफ इंडिया के अनुसार भारत के पास बेचने के लिए उस समय 4.60 करोड़ प्रमाणित उत्सर्जन इकाइयां उपलब्ध थी जो विश्व में उपलब्ध कुल प्रमाणित उत्सर्जन इकाइयों के 40 प्रतिशत के बराबर है। प्रमाणित उत्सर्जन इकाई से आशय वर्ष 1990 के स्तर की तुलना में कार्बन डाईऑक्साइड के उत्सर्जन में 1 टन की कमी से है। इस समय विश्व बाजार में 1 प्रमाणित उत्सर्जन इकाई की कीमत 20 यूरो के बराबर है। विकासशील राष्ट्र कार्बन ट्रेडिंग को विदेशी मुद्रा अर्जित करने के माध्यम के रूप में उसका स्वागत कर रहे हैं।

विश्व बैंक ने भी कार्बन ट्रेडिंग योजना को काफी सराहा है। उसने स्वयं भी वन कार्बन भागीदारी सुविधा (Forest Carbon Partnership Facility) के नाम से एक योजना शुरू की है। इस योजना के अंतर्गत विश्व बैंक वनों के विनाश तथा उनकी सघनता में कमी के कारण वायुमण्डल की कार्बन डाईऑक्साइड की शोधन क्षमता में जो कमी आ जाती है, उस पर रोक लगाने की दिशा में प्रयासरत है। इसके अंतर्गत जो राष्ट्र वन लगाने तथा वनों की सघनता में वृद्धि की दिशा में प्रयास करते हैं, उन्हें विश्व बैंक धन की अतिरिक्त सुविधाएं प्रदान करता है। इस योजना में अभी तक 14 राष्ट्र शामिल हुए हैं। यह योजना कार्बन डाईऑक्साइड के उत्सर्जन में कमी लाने के अन्य प्रयासों के साथ वायुमंडल द्वारा कार्बन डाईऑक्साइड के शोधन की क्षमता में वृद्धि की है। लक्ष्य दोनों का एक ही है: वायुमण्डल में कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा में कमी करके तापमान वृद्धि की प्रक्रिया को धीमा करना।

ऊपरी तौर पर चाहे विकासशील राष्ट्र कार्बन ट्रेडिंग की प्रक्रिया को अपने हित में समझें और इसे अधिक विदेशी मुद्रा कमाने का माध्यम समझें, परंतु जब हम इस बात का विश्लेषण करते हैं कि इस प्रक्रिया का इन देशों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, तो हम पाते हैं कि इस योजना के माध्यम से विकसित राष्ट्रों ने कार्बन ट्रेडिंग द्वारा विदेशी मुद्रा कमाने का प्रलोभन देकर विश्व में कार्बन डाईऑक्साइड के उत्सर्जन में कमी का दायित्व भी विकसित राष्ट्रों पर डाल दिया है। विकसित राष्ट्र वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड के प्रमुख उत्सर्जक होते हुए भी उसमें कमी लाने के सारे दायित्वों से मुक्ति प्राप्त कर गए हैं तथा दूसरी ओर विकासशील राष्ट्रों के द्वारा बहुत कम उत्सर्जन होते हुए भी उन पर कमी करने का दायित्व आ गया है।

जहां क्योटो समझौते के अंतर्गत विकासशील राष्ट्रों को कार्बन डाईऑक्साइड के उत्सर्जन में वृद्धि की अनुमति दी गई है, वहीं दूसरी ओर कार्बन ट्रेडिंग के माध्यम जो व्यवस्था बनी है उसके चलते उत्सर्जन में कमी का दायित्व भी उन्हीं पर आ गया है। यह तो मुल्ज़िम को ही

निर्णायक भूमिका मिलने जैसी स्थिति हो गई है। जिस तरह विश्व की मौद्रिक स्थिरता को वित्तीय संस्थाओं के भरोसे छोड़ देने से हम इस समय तीस के दशक के बाद की सबसे गंभीर मंदी के दौर से गुज़र रहे हैं, उसी तरह वैश्विक तापमान में वृद्धि और जलवायु परिवर्तन के मुद्दे को मुनाफाखोर बहुराष्ट्रीय कंपनियों तथा कार्बन ट्रेडिंग से विदेशी मुद्रा कमाने को लालायित विकासशील राष्ट्रों के भरोसे छोड़ दिए जाने से आने वाले समय में विश्व निश्चित रूप से व्यापक जलवायु संकट में फंस जाने वाला है।

जहां तक विश्व बैंक की 'वन कार्बन भागीदारी सुविधा' का प्रश्न है, इनके क्रियान्वयन में मानव अधिकारों के उल्लंघन के मामले सामने आए हैं और वनवासियों को उजाड़ा जा रहा है।

वर्तमान समय में विश्व ग्रीन हाउस गैसों के भारी मात्रा में उत्सर्जन के कारण तापमान वृद्धि और जलवायु परिवर्तन जैसे गंभीर संकट के दौर से गुज़र रहा है। इस गंभीर खतरे से सीधे-सीधे निपटना आवश्यक हो गया है। जिन राष्ट्रों की कंपनियां भारी मात्रा में ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन कर रही हैं, उन्हें कार्बन ट्रेडिंग जैसी सुविधा देने के स्थान पर उन पर इन गैसों के उत्सर्जन में एक निश्चित मात्रा में कमी करने का दायित्व डाला जाना चाहिए। कार्बन ट्रेडिंग के चलते तो ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन की वर्तमान गैर-बराबर व्यवस्था ही सुदृढ़ हुई है। यह क्योटो समझौते की मूल भावना के साथ खिलवाड़ है। अगर विकसित राष्ट्रों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर ही कार्बन डाई ऑक्साइड के उत्सर्जन में कमी लाने का लक्ष्य निर्धारित कर दिया जाता तो निश्चित ही वे अपनी उन्नत शोध और अनुसंधान क्षमताओं का उपयोग साफ-सुथरी टेक्नॉलॉजी के विकास में करतीं और पूरा विश्व उससे लाभान्वित होता।

जहां तक विश्व बैंक की 'वन कार्बन भागीदारी सुविधा' का प्रश्न है, इसका लाभ लेने के लिए अनेक राष्ट्रों ने अपने यहां वनरोपण योजनाएं शुरू की हैं, वनों की सघनता में वृद्धि के प्रयास किए हैं। ये योजनाएं व्यापक दृष्टि से तो विकासशील राष्ट्रों सहित पूरे विश्व के हित में है, परंतु इन योजनाओं के क्रियान्वयन में अनेक बार मानव अधिकारों के उल्लंघन के मामले सामने आए हैं और युगों से जंगलों में रह रहे वनवासियों को उजाड़ा जा रहा है।

इस संदर्भ में एक मत यह भी है कि अगर विकासशील राष्ट्र समता और न्याय के आधार पर वायुमंडल में समान मात्रा में ग्रीन हाउस गैसों के अधिकार की मांग करते हैं तो उन्हें अपने अंदर सभी नागरिकों को भी समान मात्रा में इन गैसों के उत्सर्जन का अधिकार देना चाहिए। इन राष्ट्रों की वास्तविकता तो यह है कि इनमें राष्ट्रीय आय का वितरण विकसित राष्ट्रों की तुलना में अधिक विषम है। इस स्थिति पर भी रोक लगाई जानी चाहिए।

निष्कर्ष यही निकलता है कि कार्बन ट्रेडिंग की व्यवस्था क्योटो समझौते की मूल भावना के विरुद्ध है। इस व्यवस्था से तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों को विश्व के वायुमंडल, समुद्र और वनस्पति जगत को प्रदूषित करने का लायसेंस मिल गया है।

क्योटो समझौते को संपन्न हुए 11 वर्ष गुज़र चुके हैं और सन 2020 तक निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इतने ही वर्ष और शेष बचे हैं। आधी अवधि गुज़र जाने के बावजूद विश्व में तापमान वृद्धि पर रोक लगना तो दूर, उसमें वृद्धि की प्रवृत्ति यथावत बनी हुई है। पिछले 200 वर्षों में सर्वाधिक गरम वर्ष भी इन्हीं वर्षों में केन्द्रित रहे हैं। अगर हम विश्व तापमान में वृद्धि पर रोक तथा जलवायु परिवर्तन की समस्या का हल करना चाहते हैं तो विशाल बहुराष्ट्रीय कंपनियों को कार्बन ट्रेडिंग की सुविधा समाप्त कर उनके ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन की सीमा निर्धारित करना होगी। तभी जाकर हम इस दिशा में कुछ प्रगति की अपेक्षा कर सकेंगे। ***(स्रोत फीचर्स)***